

## अवनद्ध वाद्य का प्राचीन प्राकृतिक रूप व महत्त्व

डॉ० हेमा दानी\*

भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्यों का विशेष महत्त्व है। संगीत में प्राण डालने वाले अवनद्ध वाद्य ही होते हैं। जिनके बिना भारतीय संगीत के स्वरूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आदिकाल से ही मानव किसी न किसी रूप में वाद्यों का प्रयोग करता आया है। प्रारम्भ में वाद्यों का जन्म या उनकी उत्पत्ति नैसर्गिक ध्वनि के अनुकरण व अन्य चेष्टाओं के परिणाम स्वरूप हुई तथा मानव ने अपनी बुद्धि व अपने शरीर के विभिन्न अंगों की सहायता से ध्वनि उत्पन्न करने की विधियाँ सीखी होंगी। जिनमें चोट करना, थपथपाना, हिलाना, खरोचना, रगड़ना, फूँकना आदि ये सब क्रियाएँ वाद्यों के निश्चित रूप की शोध हुई होंगी। प्रारम्भिक अवस्था में आदिमानव अपने नंगे शरीर में आघात द्वारा ध्वनि उत्पन्न करता था तथा विश्व के आदिम मानव जाति का प्रथम अवनद्ध वाद्य ताली को माना गया है। प्रस्तुत शोधपत्र में अवनद्ध वाद्य के प्राचीन प्राकृतिक रूप के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।

**सामान्य अर्थ:**— अवनद्ध का सामान्य अर्थ चारों ओर से बँधा, ढँका या लपेटा हुआ होता है। संगीत में इस शब्द का प्रयोग चर्म से मढ़े हुए मुँह वाले वाद्यों के अर्थ में प्रयोग हुआ है। अवनद्ध वाद्य में हाथ या लकड़ी के प्रहार से ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इसके अन्तर्गत डमरू, मंदूग, ढोलक, नगाडा, नाल, तबला आदि वाद्य हैं। ये अवनद्ध वाद्य प्राचीन वाद्यों के परिवर्तित परिवर्धित रूप हैं।

अवनद्ध वाद्यों का इतिहास बहुत पुराना है। प्रगैतिहासिक युग से लेकर आज तक मानव जिन-जिन परिवर्तनों से गुजरा है। उनके पीछे एक मर्म कथा छिपी हुई है। ऐसी ही कथायें हमें अवनद्ध वाद्यों के विषय में भी प्राप्त होती हैं। जमीन के खाली गड्ढे को प्रारम्भ में पत्तों के छालों व तख्ते से ढक कर उसमें डण्डों से आघात करके ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। धीरे-धीरे मानव के अनुभवों के विकास के साथ इसमें परिवर्तन आया, छालों व तख्ते का स्थान पशु चर्म ने ले लिया। अवनद्ध वाद्य का आदि रूप भूमि दुन्दुभि के रूप में मिलता है।

**म्यूजिकल इंस्ट्र्यूमेंट्स ऑफ इण्डिया** :— हिस्ट्री एण्ड डेवलपमेंट के वर्णन के आधार पर मेरा विचार है कि आदिमानव ने कभी मरे हुए जानवर की खाल को सूखने के लिए पेड़ की डाल पर, या कीड़े द्वारा खोखले किए गये पेड़ के तने के टुकड़े पर डाल दिया होगा। सूखने पर हवा से हिलकर पेड़ की टहनी जब उस सूखी खाल पर आघात करने लगी, तो उससे उसे विचित्र ध्वनि सुनाई दी। उस मानव ने उस खाल को जमीन पर फँसाकर आघात किया, तो उसे ध्वनि नहीं सुनाई पड़ी। उसने अनुभव किया कि खाल की पिछली ओर कोई वस्तु यदि खाल से सटी हुई नहीं हो, तो आवाज आती है। उसने भूमि में गड्ढा खोदकर खाल उसके ऊपर खींचकर तान दी, आघात किया और ध्वनि आने लगी। इस प्रकार भूमि दुन्दुभि का जन्म हुआ तथा भूमि दुन्दुभि के प्रारम्भिक रूप ने ही आगे चलकर चर्म से मढ़े हुए अर्द्धविकसित वाद्य को जन्म दिया।

इस अनुभव ने आगे के प्रयोगों के लिए मार्ग खोले तथा इसे हम एक ऐसी यात्रा कह सकते हैं जब प्रयोग करते-करते सहजता से अचानक आगे के परिवर्तन का एक रूप अपने आप बनता चला गया और जो पहले से अधिक परिष्कृत था।

मिट्टी के पात्र, जो अन्य जरूरतों हेतु बनाये जाते थे, उनके मुख पर चमड़ा मढ़कर वाद्य के रूप में प्रयोग किया गया। आनन्द और उल्लास के समय इन्हीं वाद्ययन्त्रों का उपयोग किया जाता था।

प्रारम्भ में गायन वादन नृत्य समूह में होता था। उसी के साथ भूमि दुन्दुभि का वादन किया जाता था। भैंस या बैल की पूँछ से भूमि दुन्दुभि में आघात करके निश्चित अन्तराल पर एक ध्वनि उत्पन्न की जाती थी, और जिसे आधार मानकर गायन एवं नृत्य के कार्यक्रम सम्पन्न होते थे। सामूहिक रूप से हो रहे सांगीतिक उत्सवों के लिए यह विशेष उपयोगी साबित हुआ।

प्राचीन मानव का नृत्य भाव की अपेक्षा लय-प्रधान अधिक था, जैसा कि आज भी लोकनृत्यों में देखा जा सकता है। नृत्य के साथ ताल देने के लिए और काल मापन के लिए ही चर्मानद्ध वाद्यों का सर्वप्रथम निर्माण हुआ। इनके निर्माण की प्रेरणा उसे उन ध्वनियों से प्राप्त हुई होगी, जोकि वह नृत्य करते समय अपने शरीर के विशेष भागों को (विशेषतः पेट, छाती

\* संगीत विभाग, डी.एस.बी. परिसर, नैनीताल

और जाँघें) हाथ से पीट कर उत्पन्न किया करता था।

आदिम सभ्यता के समय मानव के द्वारा प्रयुक्त वाद्य अविकसित अवस्था में थे। मानव ने वाद्यों को बनाना व दक्षता पूर्वक बजाना तो सीखा किन्तु सौन्दर्य की उपेक्षा की। वाद्य अपने गुणों सहित अर्थपूर्ण थे, किन्तु आकर्षक नहीं थे। वाद्यों में असौन्दर्यात्मक प्रकृति परिलक्षित होती है। वाद्यों की ध्वनियाँ कोमल, जोरदार और तीखी थीं। प्राचीन वाद्यों के बाह्य रूप का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि वह गोलाकार व नुकीले होते थे। उनका रंग श्वेत या रक्तिम लाल होता था तथा उनकी वादन क्रिया चोट करके, खरोंच कर या घिस कर होती थी।

मानव की कल्पना, अनुभव व सृजनात्मकता वाद्यों की बनावट, उपयोग और वादन शैली से जुड़ती गई। जैसे-जैसे मानव के अनुभव बढ़ते गये, वाद्यों के निर्माण व बनाने के ढंग, बजाने के प्रयोग में परिवर्तन आता गया, जिसके फलस्वरूप वाद्यों का विकास हुआ है। युग परिवर्तन तथा परिस्थितियों के साथ-साथ वाद्यों के स्वरूप और नाम में भी परिवर्तन हुआ।

सिन्धु घाटी सभ्यता जो कई हजार वर्ष पुरानी सभ्यता है किन्तु इस काल में संगीत का जन्म हो चुका था। जिसका प्रमाण हमें प्राचीन नृत्य संबंधी मूर्तियाँ व चमड़े के ढोल, मिट्टी, पत्थर के वाद्य यन्त्र आदि से प्राप्त होता है। वाद्य यंत्र, नृत्यशील नारी की मूर्ति यह प्रमाणित करती है कि सिन्धु घाटी के सुप्राचीन युग में संगीत का यथेष्ट प्रचलन था। गीत, वाद्य, नृत्य के द्वारा लोग अपना मनोरंजन करते थे। हड़प्पा में उपलब्ध एक चित्र में एक पुरुष को व्याघ्र के समक्ष ढोल बजाते हुए अंकित किया गया है।

आज भी आदिवासी व ग्रामीण जनजाति के लोगों में व्याघ्रादि हिंसक पशुओं के प्रवेश पर ग्राम के चारों ओर ढोलक के द्वारा भयंकर गर्जना करने की प्रणाली विद्यमान है। इसी प्रकार इस सभ्यता में खुदाई के दौरान कुछ मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। इन मुद्राओं में भी दीर्घाकार ढोलक अंकित है। जिनके दोनों मुख चर्म से आवद्ध हैं।

जो भी संगीत सामग्री इस सभ्यता में प्राप्त होती है, उससे यह ज्ञात होता है कि संगीत का प्रयोग लौकिक व धार्मिक दोनों समारोहों में किया जाता था तथा जिसमें अवनद्ध वाद्यों को विशेष महत्त्व दिया गया था। अवनद्ध वाद्यों के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि हमारे देश में प्राचीन काल से ही संगीत के क्षेत्र में अवनद्ध वाद्यों का विशेष स्थान और उनकी उपयोगिता रही है। भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं और भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति हेतु अपने ध्वनात्मक गुण तथा विभिन्न आकार-प्रकार के कारण अवनद्ध वाद्यों का विकास होता गया।

दुन्दुभि, भूमि दुन्दुभि, भेरी, ढोल, मृदंग आदि अवनद्ध वाद्य का प्रयोग बहुत ही प्राचीन काल से होता आ रहा है। अवनद्ध वाद्यों के आदि जनक-वाद्य दुन्दुभि, भूमि दुन्दुभि, मृदंग और डमरू ही माने गये हैं। क्रोध, भय, उत्साह, रौद्र आदि भावों की अभिव्यक्ति के लिए बड़े आकार के गम्भीर घोष उत्पन्न करने वाले वाद्यों का निर्माण हुआ, जैसे भूमि दुन्दुभि, दुन्दुभि, मृदंग, भेरी आदि तथा चंचल, रति, वात्सल्य, भक्ति आदि शान्त एवं कोमल भावनाओं को व्यक्त करने के लिए छोटे आकार के ऊँचे स्वर में चढ़ाये जा सकने वाले तत्कालीन वाद्यों को परिवर्धित तथा परिष्कृत कर प्रयोग में लाया गया। फलस्वरूप पटह, हुडुक्का, तबला आदि वाद्य विकसित हुए। इन सभी वाद्यों का महत्त्व जीवन के हर क्षेत्र में जैसे-जन्मोत्सव, स्वागत समारोह, राज्याभिषेक, उद्घोषणा, सेना संगठन, युद्ध के मध्य व अन्त आदि में विशिष्ट स्थान रहा है, तथा वाद्यों की ध्वनियाँ आन्तरिक द्वन्द, भय, चिन्ता, उत्साह, चंचलता, दृढ़ता आदि भावों को व्यक्त करने में सफल रही है।

वैदिक साहित्य के आधार पर यह बात स्पष्ट है कि ईसा के कई हजार वर्ष पूर्व भारत में संगीत का प्रचार था। सामगान में ताल की संगति के लिए प्रारम्भ में दुन्दुभि, भूमि दुन्दुभि का प्रयोग किया गया है। भूमि दुन्दुभि का निर्माण यज्ञ मण्डप में भूमि खोदकर उसके ऊपर बैल कि खाल खींचकर तान दी जाती थी तथा बैल की पूँछ से आघात किया जाता था तथा दुन्दुभि का वादन सींग से या लकड़ी से होता था। आगे चलकर अथर्वकालीन दुन्दुभि लकड़ी की बनाई जाने लगी तथा राजमहलों व मन्दिरों में भी यह वाद्य प्रयोग में लाया गया। इसे बोल चाल की भाषा में नगाड़ा भी कहते हैं।

वेदों में जो उल्लेख मिलता है उससे पता चलता है कि उस समय दुन्दुभि, वनस्पति, आडम्बर, आदि वाद्यों का प्रयोग विभिन्न अवसरों पर होता था तथा यज्ञादि कर्म की सूचना देने के लिए, यज्ञ के बाद सामूहिक गीत-नृत्यादि के साथ वादन के लिए तथा किसी अनिष्टकारी आशंका को सूचित करने के लिए अवनद्ध वाद्यों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था।

रामायण तथा महाभारत दोनों ग्रन्थों में अवनद्ध वाद्यों की चर्चा विभिन्न अवसरों पर की गयी है। इस काल में गायन, नृत्य तथा लय वाद्यों के वादन से विहीन किसी राज्य की कल्पना एक असम्भव बात थी अर्थात् इस काल में चारों ओर अयोध्या, लंका, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर आदि में सांगीतिक वातावरण था। इन ग्रन्थों में तत्कालीन अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि, मृदंग, मुरज, पणव, आडम्बर, डिमडिम, भेरी, झर्झट आदि अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख है। इन वाद्यों की मंगल ध्वनि नगर की

सुख सम्पन्नता की द्योतक थी।

रामायण में वर्णन है कि पिता के निधन पर जब भरत अयोध्या लौटे, तब वाद्य—ध्वनि न सुनाई देने पर उन्हें विस्मय हुआ। इसी प्रकार महाभारत में कृष्ण और अर्जुन जब युद्धभूमि से अपने शिविर में लौटते हैं। तब वाद्य—ध्वनि न होने के कारण उन्हें अशुभ व अमंगल का आभास होता है। दोनों ही ग्रन्थों में गायन, वादन, नृत्य मनोरंजन के साधन हैं। रामायण एवं महाभारत दोनों में वाद्य वादन युद्ध के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में विजयी होने पर किया जाता है तथा भावाभिव्यक्ति करने में अवनद्ध वाद्य सहायक होते हैं। दोनों ही ग्रन्थों में अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग धार्मिक व सांस्कृतिक उत्सवों में हुआ है। धार्मिक उत्सव के अन्तर्गत जन्म, अभिषेक, विवाह आदि आते हैं तथा सांस्कृतिक उत्सव में संगीत गोष्ठी आदि आते हैं।

बौद्ध साहित्य में त्रिपिटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें उल्लेख है कि जुलूस के आगे ढोल—वादक चलते थे तथा यह भी वर्णित है कि अपराधी व्यक्ति को दण्ड देने से पूर्व उसे कर्कश स्वर वाले वाद्य वादन के साथ सारे नगर में घुमाया जाता था, तथा अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं अपितु अनेक धार्मिक अनुष्ठानों, उत्सवों एवं सार्वजनिक समारोहों के अवसर पर और सेना प्रयाण करते समय रणभूमि में भी होता था। अवनद्ध वाद्यों का जनसाधारण में इतना अधिक महत्त्व था कि उनकी ध्वनि से ही वे वाद्य का नाम समझ जाते थे। इस काल में मृदंग, भेरी, आनक, आलम्बर, कुम्भत्थूण आदि अवनद्ध वाद्यों का विशेष महत्त्व था।

जैन ग्रन्थ में अनेक अवनद्ध वाद्य जैसे पणव, पटह, भंभा ढक्का, भेरी, झल्ली, दुन्दुभि, मुरज, मृदंग, आलिंग्य, मर्दल, करटा, डिमडिम, दर्दरिका, मड्डुक, हुडुककी आदि का उल्लेख है। इन वाद्यों का प्रयोग विभिन्न अवसरों पर किया गया है तथा जिन भगवान के अभिषेक के समय विभिन्न अवनद्ध वाद्यों का वादन हुआ। मंगलोत्सव कार्यों में, संगीत के अन्तर्गत अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग का विशेष विधान था।

इसी प्रकार भरतमुनि ने अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, पणव, दर्दुर जैसे वाद्यों का उल्लेख किया है तथा इन वाद्यों के लिए सामान्य संज्ञा 'पौष्कर' है। भरतमुनि ने अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, पणव, दुर्दुर को प्रमुख वाद्य (अंग वाद्य) माना है, तथा झल्लरी पटह आदि गौण वाद्य (प्रत्यंग वाद्य) हैं। इनके अनुसार अवनद्ध वाद्यों का प्रौढमत स्वरूप पुष्कर वाद्य है। पुष्कर वाद्य जो कि रस भावाभिव्यंजना में उपयोगी होने से वैचित्र्यपूर्ण और पहले के (पूर्व प्रचलित) अवनद्ध वाद्यों से भिन्न था।

पुष्कर वाद्यों का प्रयोग उत्सवों में राजकीय जुलूसों में मंगलकार्यों में, शुभ असवरो पर, विवाह पुत्रजन्मोत्सव पर, युद्ध क्षेत्र आदि ऐसे ही अन्य स्थलों पर विशेष रूप से किया गया है। अवनद्ध वाद्यों के जन्म पर विचार किया जाये तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ वाद्य तो कौतूहल वश अथवा मनुष्य ने अपनी बुद्धि से उन में परिवर्तन, परिवर्धन के उद्देश्य से निर्मित किये हैं और कुछ अनेक वाद्य काल विशेष की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं। अवनद्ध वाद्यों का विकास जैसे—जैसे होता गया वैसे—वैसे उनका धार्मिक, सामाजिक अथवा युद्ध आदि के अवसरों पर सप्रयोजन प्रयोग बढ़ता गया। अवनद्ध वाद्यों का विशेष प्रयोजन और प्रयोग इन्हें प्रतीकात्मक भी बना देता है। जब वाद्य विशेष की ध्वनियाँ परिस्थिति विशेष की सूचना देती हैं, तब उन्हें प्रतीकात्मक कहा जाता है। नगाड़ा, पटह, दुन्दुभि, भेरी आदि अवनद्ध वाद्य युद्ध के सूचक हैं। इन अवनद्ध वाद्यों की ध्वनियाँ सैनिकों में उत्साह का संचार करने में सक्षम थीं।

वाद्यों की तुमुल ध्वनियों के साथ सैनिकों द्वारा युद्ध के लिए प्रस्थान किया जाता था। अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग केवल वीर भावना की जागृति के लिए युद्ध क्षेत्र में ही किया जाता हो ऐसी बात नहीं है। अवनद्ध वाद्यों के द्वारा जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र में कायर के हृदय में भी वीरता का भाव जाग उठता है उसी प्रकार वाद्य विशेष मानव की कोमल भावनाओं को जाग्रत करने में सक्षम होते थे।

इस प्रकार समाज में वीर—पूजा, धार्मिक पर्वों एवं सामाजिक उत्सवों जैसे शादी, जन्मोत्सव आदि के समय अवनद्ध वाद्यों का विशेष प्रयोग व महत्त्व बढ़ता गया तथा संगीत की उन्नति के साथ—साथ अवनद्ध वाद्यों में समयानुसार सुधार भी होता रहा।

प्राचीन अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि तथा भूमि दुन्दुभि में किसी प्रकार के विलेपन की व्यवस्था नहीं थी। जमीन में गढ़वा खोदकर उस पर किसी मृत जानवर की खाल को मढ़कर भैंस या बैल की पूँछ से तथा दुन्दुभि में लकड़ी के द्वारा आघात करके निश्चित अन्तराल पर एक ध्वनि उत्पन्न की जाती थी, और जिसे आधार मानकर गायन एवं नृत्य के कार्यक्रम सम्पन्न होते थे। सामूहिक रूप से हो रहे सांगीतिक उत्सवों के लिए यह विशेष उपयोगी साबित हुआ किन्तु पशु की पूँछ अथवा लकड़ी के प्रहार से बजाने के कारण उसमें अलग—अलग वर्णों का वादन सम्भव नहीं था। अतः इसमें जब गूँज की आवश्यकता महसूस की गई तब विलेपन का प्रयोग हुआ सर्वप्रथम भरतनाट्यशास्त्र में वर्णित अवनद्ध वाद्यों के मुखचर्म पर विलेपन की प्रक्रिया प्राप्त होती है।

पुष्कर से आरम्भ हुए मृत्तिका लेपन के इस गुण को विभिन्न अवनद्ध वाद्यों ने कालान्तर में स्याही के रूप में अपनाया। हाथ की उँगुलियों से वादन किया जाना पुष्कर की एक और बड़ी विशेषता थी। जिससे इसमें वादन की सम्भावनाओं और इसमें बजने वाले वर्णों की संख्या का विकास हुआ तथा स्वर, प्रहार, बोल, मार्जना की दृष्टि से पुष्कर वाद्य अत्यन्त समृद्ध एवं श्रेष्ठ वाद्य थे क्योंकि इस वाद्य को निर्दिष्ट स्वरों में मिलाकर, विभिन्न प्रकार के प्रहारों से ध्वनि के विविध रूपों व पाटाक्षरों (बोलो) को निकालते हुए बजाया जा सकता था।

आचार्य भरत के समय की काली चिकनी मिट्टी का विलेपन, मध्यकाल तक आते-आते गेहूँ तथा जौ के आटे तक आ पहुँचा तथा इस गुण को तबला, मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों ने स्याही के रूप में अपनाया। वर्तमान में लौहचूर्ण निर्मित स्याही का प्रयोग ही बहुतायत से हो रहा है। यह विलेपन आवश्यकतानुसार वाद्यों की पूड़ी के ऊपर तथा अन्दर की ओर से भी किया जाता है।

उपरोक्त विलेपन से वाद्यों की अनुरणात्मकता बढ़ जाने के कारण वाद्यों को गायक, वादकों की संगत करते समय आधार स्वर में मिलाया जाना सम्भव हो सका। आचार्य भरत के काल से वर्तमान तक शास्त्रीय तथा मार्गीय संगीत में अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग में स्वर मार्जना आवश्यक मानी गयी है। चर्म वाद्यों में आघात और उससे उत्पन्न ध्वनि और गूँज के नये नये प्रयोग होते गये और यह भी अनुभव किया गया कि एक ही वाद्य के विभिन्न अंगों में आघात करने से नाद के अलग-अलग गुण व्यक्त होते हैं। उचित स्थान पर हाथ व उगलियों के प्रयोग तथा बोलों की विविधता ने अवनद्ध वाद्यों परम्परा को समृद्ध किया। ताल दर्शाने के लिए पखावज, मृदंग, तबला को मान्यता मिली। आज अवनद्ध वाद्यों में पखावज, मृदंग, तबला कलात्मक उन्नत अवनद्ध वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

वर्तमान में शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, सुगम, लोक संगीत, फ़िल्मी संगीत और नृत्य के साथ तबला, ढोलक, नाल आदि अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग बहुतायत से किया जा रहा है। आज गायन शैली, वादन शैली, नृत्य शैली की सुन्दरता बढ़ाने के लिए अवनद्ध वाद्यों को जितनी सफलता मिली है उतनी सफलता किसी भी अन्य वाद्यों को नहीं मिली।

आज जन जीवन के हर छोटे बड़े कार्य व उत्सव में अवनद्ध वाद्यों का भरपूर प्रयोग किया जा रहा है। यह इतने लोकप्रिय हैं कि हर कार्यक्रम में इनकी अनिवार्यता महसूस की जाती है तथा अवनद्ध वाद्य ने अपने गुणों से जनमानस को अपनी ओर आकर्षित किया है। संगीत के क्षेत्र में अवनद्ध वाद्यों को विशेष महत्त्व प्राप्त होता है क्योंकि विशिष्ट प्रकार के वातावरण में विशेष प्रकार के रस एवं भावों की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। तबला आदि वाद्य में चंचलता, नगाड़ा घोंसा, मादल, ढोल आदि वाद्यों की ध्वनि में गार्भीय होता है। अतः भय, रोष, आवेश के भावों को उत्पन्न करने में ये वाद्य सहायक हैं।

इसके अतिरिक्त नगाड़ा, ढोल, ढोलक का प्रयोग आज भी आदिवासी लोग विवाह जैसे मांगलिक अवसर पर तो करते हैं साथ ही संकट की घड़ियों में व अन्य किसी प्रसंग पर सबको एकत्र करने के लिए ढोल का वादन किया जाता है। ढोल पर किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के वादन के अनुसार आदिवासी उसका अर्थ-प्रसंग जानकर उसी ढंग से पूर्ण तैयारी के साथ एकत्र होते हैं। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक वाद्य ध्वनि की विशेषता को सभी ने स्वीकार किया है। वाद्य हमारे जीवन की संवेदनाओं से जुड़े होते हैं और उनकी ध्वनि जीवन के क्रिया कलापों से जुड़कर आनन्द की अनुभूति कराती है।

इस प्रकार भारतीय संगीत में हमें अवनद्ध वाद्यों का सुन्दर तथा विविध प्रयोग देखने को मिलता है। समय-समय पर अनेक नवीन वाद्यों का निर्माण होता गया तथा प्राचीन वाद्यों का प्रयोग कम होता चला गया। नवीन वाद्यों के निर्माण में प्राचीन वाद्यों को आधार बनाया गया तथा कुछ पूर्णतः नवीन वाद्य देखने को मिलते हैं। प्राचीन वाद्य कम या अधिक संशोधन के साथ आज भी प्रचलित हैं। वाद्यों के स्वरूप निर्माण सामग्री तथा वादन शैली में संशोधन एवं परिवर्तन समय की आवश्यकता और मानव की बुद्धिमत्ता के कारण हुए। आज ताल वाद्यों की समृद्ध परम्परा देखने को मिलती है।

## सन्दर्भ सूची

- 1 मिश्र विजय शंकर, तबला पुराण, कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर, नई दिल्ली, 2005, पृ 4,11,15
- 2 श्रीवास्तव गिरीश चन्द्र, ताल परिचय, रूबी प्रकाशन, 1999, पृ 148,149
- 3 डॉ० भार्गव, अंजना, भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिंतन, कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर, नई दिल्ली, 2002, पृ 25,43
- 4 मिस्त्री, डॉ० आबान ई०, पखावज और तबला के घराने एवं परम्परायें, पं० केकी० एस० जिजिना स्वर साधना समिति, मुम्बई, 1984, पृ 116,117

- 5 शुक्ल, डॉ० योगमाया, तबले का उद्गम विकास और वादन शैलियाँ, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई०ए०/६ मॉडल टाउन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, 1987, पृ 58,80,88
- 6 पं० मिश्र, लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बी/45-47, कनाट प्लेस, नई दिल्ली, 1973, पृ 11,14,15
- 7 पं० वशिष्ठ, सत्यनारायण, तबले पर दिल्ली और पूरब, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1969, पृ 6,7,8
- 8 परांजये, श्रीधर शरच्चन्द्र, भारतीय संगीत का इतिहास, चैखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, राजकमल प्रकाशन, 1970, पृ 18,21,45
- 9 आचार्य बृहस्पति, संगीत चिंतमणी, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1989, पृ 5,4,11
- 10 रामअवतार, संगीताचार्य वीर, भारतीय संगीत, वीर संगीत प्रकाशन, लारेंस रोड, नई दिल्ली, 1986, पृ 34,56